।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक पहला

६१

वैशाख
२४७६

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शन सहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता; क्योंकि आत्मभान बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है। जहाँ आत्मभान है, वहीं सच्चा सुख है। [सारसमुच्चय-३९]

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अनुक्रम

1- धर्म
2- भरतजी के साथ तत्त्वचर्चा
3- आत्मा की प्रभुता
4- आत्मा की शांति कहाँ है?
5- अरिहन्तदेव की दिव्यध्वनि का सार?
6- चैतन्य के लक्ष्य से रहित सब मिथ्या है।
7- अरण्य-रोदन

अरण्य -वेदन

जहाँ अधर्म हो, वहाँ वह बदलकर धर्म होता है। अधर्म कहाँ होता है? अधर्म, आत्मा की अवस्था में होता है। अभी जीवों ने यह विचार भी नहीं किया कि अधर्म कहाँ पर होता है। यदि बाह्य में अधर्म होता हो तो आत्मा उसे कभी छोड़ ही नहीं सकता। स्वभाव की भ्रान्ति के कारण आत्मा की अवस्था में अधर्म होता है, और अन्तर्मुख देखने से, अर्थात् आत्मा के स्वभाव के भान से वह अधर्म दूर होकर धर्म होता है। सबसे पहली सम्यग्दर्शन कला कैसे प्रगट हो – उसकी यह बात है। ऐसा भान प्रगट किए बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, तप, चारित्र नहीं होते। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व कला प्रगट किए बिना जीव जितना- जो कुछ करे, वह सब अरण्य-रोदन के समान अथवा तो इकाई रहित शून्य के समान है।

वैशाख
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–१

धर्म

गतांक से आगे.....

[वीछिया ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय, फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन जन्मकल्याणक प्रसंग पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचनसार गाथा १५९-१६० पर प्रवचन]

(५) धर्मी जीव की भावना

– ऐसा धर्मात्मा जीव नित्य मोक्षसुख के कारणभूत शुद्धोपयोग की भावना करता है। यहाँ शुद्धोपयोग की भावना रागरूप नहीं समझना चाहिए, परन्तु सर्व परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर आत्मस्वभाव का आश्रय करता है, वही शुद्धोपयोग की भावना है। धर्मी जीव परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर किस प्रकार स्वभाव का आश्रय करता है? इस बात प्रवचनसार की इस १६० वीं गाथा में कहते हैं।

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥१६०॥
हुं देह नहि वाणी न, मन नहि तेमनुं कारण नहि।
कर्ता न, कारयिता न, अनुमंता हुं कर्तानी नहि॥१६०॥

अर्थ :– मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वाणी नहीं हूँ, और उनका कारण नहीं हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, कारयिता (करानेवाला) नहीं हूँ; और कर्त्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

(६) जन्म-मरण की बेड़ी तोड़ने की बात

जिस प्रकार अंक और अक्षरों के ज्ञान बिना हिसाब नहीं लिखा जा सकता, उसी प्रकार आत्मा के अंक और अक्षर अर्थात् आत्मा के चैतन्य चिह्न और अविनाशी स्वभाव को जाने बिना धर्म का हिसाब नहीं हो सकता। भाई! यह तो जन्म-मरण के बन्धन को तोड़ने की बात है। इसे

समझे बिना किसी प्रकार जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। इसे समझे बिना भगवान की मणि-रत्नों की प्रतिमा बनाये और सोने के थाल में कल्पवृक्ष के फूलों से पूजा करे, तथापि वह शुभराग है; आत्मा का स्वभाव तो उस राग से रहित है, उसे न समझे तो संसार के जन्म-मरण दूर नहीं हो सकते। शुभराग, धर्म का पंथ नहीं है। आत्मा की पहचान करके उसका आश्रय करना, वही एक धर्म का पंथ है। कहा भी है कि – 'एक होय त्रण कालमां, परमारथनो पथ।' मोक्ष का मार्ग त्रिकाल एक ही प्रकार का है।

(७) धर्मी का धर्म शरीर–मन–वाणी से नहीं होता।

धर्मात्मा जीव का लक्षण क्या है? धर्मी जीव के अन्तर में कैसा भान होता है? – उसको यह बात है। धर्मात्मा जानता है कि मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, और जो शरीरादि परद्रव्य हैं, वे सब ज्ञेय हैं। मेरे ज्ञानस्वरूप से शरीरादि ज्ञेय पदार्थ भिन्न हैं। अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ और वाणी भी मैं नहीं हूँ। इससे उन शरीर-मन-वाणी से मेरा धर्म नहीं होता। तो फिर काहे से धर्म करोगे? आत्मा, शरीर-मन-वाणी से पार ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है, उसमें से धर्म का स्फुरण होता है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है और शरीर-मन-वाणी परज्ञेय हैं; आत्मा उनका ज्ञाता है, लेकिन वह उनका कुछ कर नहीं सकता। शरीर से, मन से या वाणी से आत्मा का धर्म नहीं होता। यह शरीर और भाषा तो परवस्तु हैं और अन्दर छाती के भाग में एक सूक्ष्म मन है, वह जड़-पुद्गलों का बना हुआ है, वह मन भी परवस्तु है। उस मन की ओर आत्मा की जितनी युक्तता होती है, उतना विकार होता है, वह विकार भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। मन परद्रव्य है, उस मन के अवलम्बन से भी आत्मा का धर्म नहीं होता। आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव मनातीत और विकल्पातीत है, उसे पहचानकर उसमें एकाग्र होने से जितने अंश में मन से पृथक् हो जाता है, उतना धर्म है। इस भाव के बिना तीनकाल में भी धर्म नहीं होता। आज समझे, कल समझे अथवा दो-चार भव में समझे; लेकिन इसे समझे बिना कभी भी भव का अन्त नहीं आ सकता।

(८) ज्ञान और ज्ञेय का भेद विज्ञान

पर से भिन्नत्व जाने बिना, उसके प्रति मध्यस्थता होती ही नहीं, और न स्वरूप में ही एकाग्रता होती है। आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न जानकर धर्मी जीव, परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकरअपने स्वभाव में स्थित होता है। धर्मी जीव जानता है कि वाणी मैं नहीं हूँ और न वाणी से मेरा धर्म होता है। आत्मा, वाणी को नहीं करता और न वाणी से वह समझमें आता है। शरीर, मन, वाणी मैं नहीं हूँ – इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर, मन और वाणी की क्रिया आत्मा के कारण नहीं होती। व्यवहार से भी आत्मा उनका कुछ नहीं कर सकता। 'आत्मा ने शरीरादि का किया' –

ऐसा भाषा में आता है, लेकिन वस्तुस्वरूप उससे भिन्न है। दूर रहनेवाले देव-गुरु-शास्त्र और निकटस्थ शरीर-मन-वाणी, वे सभी मुझसे पृथक् हैं। मैं ज्ञाता हूँ और वे सब मेरे ज्ञेय हैं। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय को पृथक् जानकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, सो धर्म है।

(९) प्रतिष्ठा-महोत्सव और आत्मा की समझ

यह तो भगवान की प्रतिष्ठा का महोत्सव हो रहा है। जैसी भगवान ने कही है, वैसी ही आत्मा की महिमा को जानना, वह सच्चा महोत्सव है। वसुविन्द-प्रतिष्ठापाठ में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक का वर्णन आता है। वह श्रावक, श्रीगुरु के निकट आकर आज्ञा माँगता है कि – हे स्वामी! मैं इस लक्ष्मी को कुलटा स्त्री के समान और अनित्य मानता हूँ, अपने लक्ष्मी के राग को कम करके उसका सदुपयोग करूँ – ऐसा कोई कार्य बतलाइये। श्री अरिहन्त भगवान के पंचकल्याणक कराने की मेरी हार्दिक भावना है। तब श्री गुरु कहते हैं कि –धन्य है तुझे! तू अपने कुल में सूर्य समान है! कहकर जिनबिम्ब प्रतिष्ठा और पंचकल्याणक महोत्सव की अनुमति प्रदान करते हैं। वह महोत्सव अनन्त भवों का नाशक है। यहाँ बाह्य क्रिया की या मात्र शुभराग की बात नहीं है, परन्तु अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के भानपूर्वक उसमें लीन होकर तृष्णा कम करने से अनन्त अवतारों का नाश हो जाता है। परमार्थतः तो आत्मस्वभाव की जो अनन्त ज्ञानमय सम्पत्ति है, उसे प्रगट करके राग का व्यय करना वह महोत्सव है। महोत्सव करने वाला अपना राग करने के लिए अपनी संपत्ति का व्यय करता है। वास्तव में आत्मा लक्ष्मी का व्यय नहीं कर सकता, परन्तु राग कम करने के उपदेश के लिए व्यवहार से लक्ष्मी के व्यय की बात है।

प्रतिष्ठा कराने वाले गृहस्थ से आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाग्यवान! तेरा अवतार सफल है जो तेरे गृह में ऐसा महान अवसर आया है! स्वर्ग-मोक्ष के कारणरूप तेरा सफल अवतार है! तेरा महाभाग्य है! मात्र लक्ष्मी का व्यय करके, हो-हा करके अथवा मान-आदर के लिये लक्ष्मी लगा दे–उसकी यह बात नहीं है। परंतु जिसे अन्तर में रागरहित स्वभाव का बहुमान है और जड़ लक्ष्मी मेरी वस्तु नहीं है–ऐसा समझने से जिसे उसका अभिमान दूर हो गया है वह जीव लक्ष्मी के राग को कम करने के लिए तैयार हुआ है–उसकी बात है। अन्तर में रागरहित ज्ञायक स्वभाव का भान हो तो कल्याण है। जड़ की क्रिया का स्वामी न हो और शुभराग को धर्म न माने इसप्रकार जहाँ-जहाँ, जो-जो योग्य हो वहाँ-वहाँ, वह वह समझे और रागरहित स्वभाव की दृष्टि रखकर राग घटाने के स्थान पर राग घटाये। अन्तर में आत्मा के घ्भान बिना राग कम करे तो परमार्थ-मार्ग में उसकी कोई गिनती नहीं है। राग को कम करने का निषेध नहीं है, परन्तु अन्तर में भान होना चाहिए कि पैसा या मंदिर इत्यादि जड़ की क्रिया को आत्मा नहीं कर सकता, और जो शुभराग होता

है उससे भी मुझे लाभ नहीं होता। स्वभाव के भानसहित जितना राग दूर हुआ उतना लाभ है। प्रथम आत्मा की सच्ची समझ के बिना कोई जीव राग को मंद करे तो कहीं ज्ञानी इन्कार नहीं करते हैं, परन्तु उससे उसके आत्मा का अपूर्व कल्याण नहीं होगा और अनन्त जन्म-मरण का नाश नहीं होगा।

(१०) निश्चय और व्यवहार की कथनशैली

आत्मा स्वयं देह-मन-वाणी नहीं है, और देह-मन-वाणी की क्रिया का कारण भी नहीं है। कोई कहे कि–'निश्चय से तो आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता, लेकिन व्यवहार से वह पर का करता है' तो यह बात भी मिथ्या है। निश्चय से या व्यवहार से किसीप्रकार आत्मा पर का कर ही नहीं सकता। 'निश्चय से नहीं करता और व्यवहार से करता है'–ऐसा दो प्रकार का कथन है, परन्तु वस्तुस्वरूप कहीं दो प्रकार का नहीं है। निश्चय की बात को लक्ष में रखकर व्यवहार का अर्थ समझना चाहिए। आत्मा शरीरादि की कोई क्रिया कर ही नहीं सकता–ऐसा ही वस्तुस्वरूप है, वह निश्चय है, और 'आत्मा शरीरादि का करता है'–ऐसा कथन शास्त्रों में व्यवहार से होता है वह मात्र निमित्त का कथन है, किन्तु वस्तुस्वरूप नहीं है। शरीरादि की क्रिया होती हो उससमय कैसा निमित्त था–उसका ज्ञान कराने के लिए वह व्यवहार का कथन है।

(११) धर्मी के धर्म का माप बाह्यक्रिया से नहीं है

भगवान के गंधोदक का पानी लेकर मस्तक पर चढ़ाते हैं और कहते हैं कि–हे भगवान! आप संसार-सागर से पार हो गये हो। मुझे भी पार लगा देना! तो क्या भगवान किसी को पार लगा देते हैं? या गंधोदक का पानी किसी को तार देता होगा? यह तो मात्र भगवान के प्रति विनय की भाषा है। आत्मा के अन्तर का पानी उछले बिना (पुरुषार्थ बिना) मुक्ति नहीं होती। आत्मा के अन्तर का पानी बाह्यक्रिया से नहीं जाना जाता। जिसप्रकार हीरे के पानी की परख जौहरी कर सकता है; लेकिन किसान उसे नहीं पहिचान सकता; उसीप्रकार धर्मी जीव के अन्तर का पानी आहारादि बाह्यक्रिया से ज्ञात नहीं होता। अमुक प्रकार का त्याग है और अमुक प्रकार से आहारादि लेते हैं–ऐसी बाह्यक्रियाओं में धर्मी जीव के धर्म का माप नहीं होता; परन्तु अन्तर में आत्मस्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कितना राग नष्ट किया है–उस पर से धर्मी का माप होता है।

अज्ञानीजन कहते हैं कि आत्मा में अनंतशक्ति है और आत्मा स्वतंत्र अगर तुम मानते हो तो छह महीने के उपवास कर डालो? लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि भाई! आत्मा की शक्ति का माप बाह्य-क्रियाओं से नहीं है। कौन आहार लेता है? और कौन उसे छोड़ता है? चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा है, वह जड़ आहार को लेने-छोड़ने की क्रिया कर ही नहीं सकता।

(१२) आत्मा का व्यवहार कहाँ होता है?

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा शरीर-मन-वाणी का कारण नहीं है। शरीर-मन-वाणी तो जड़ पुद्गल की रचना है। धर्मी जीव अपने को उसका कारण नहीं मानते, और जिस भाव से शरीर-मन-वाणी का संयोग हो, उस भाव का कारण भी वे अपने को नहीं मानते। स्वभावदृष्टि से आत्मा विकार का कारण है ही नहीं और निमित्त से भी आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कारण नहीं है।

अज्ञानी कहते हैं कि बाह्य व्यवहार तो करना पड़ता है न? लेकिन भाई! आत्मा, पर में क्या करेगा? क्या तुम जड़ की क्रिया में आत्मा का व्यवहार मनाना चाहते हो? निश्चय आत्मा में है और व्यवहार बाह्य में है– ऐसा नहीं है। आत्मा का व्यवहार आत्मा से बाहर नहीं होता; इससे बाह्य शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा व्यवहार से भी नहीं करता। किन्तु आत्मा अपनी पर्याय में उस ओर का राग करता है, उसे जानना, वह व्यवहार है। त्रैकालिक स्वभाव में राग नहीं है और पर्याय में यह क्षणिक राग होता है–इस प्रकार उस राग को जानना, सो असद्भूत व्यवहार है, और त्रिकाली रागरहित स्वभाव को जानना, वह निश्चय है। निश्चय को जाने बिना व्यवहार का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। त्रिकाली स्वभाव रागरहित है, उसे न जाने और क्षणिक राग को ही अपना स्वरूप मान ले, उसे व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं है।

(१३) आत्मा के कारण भाषा नहीं होती।

आत्मा में से भाषा उत्पन्न नहीं होती और आत्मा स्वयं कारणरूप होकर भाषा को प्रगट नहीं करता। आत्मा की इच्छा के कारण भाषा नहीं होती, किन्तु जड़ पुद्गल स्वयं भाषारूप होते हैं। केवली भगवान के इच्छा न होने पर भी वाणी खिरती है और अनेक जीवों के इच्छा होने पर भी वाणी नहीं निकलती; क्योंकि वाणी, आत्मा के कारण नहीं होती, परन्तु जड़ के कारण होती है। इस प्रकार मैं जड़ से भिन्न हूँ – ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

(१४) निश्चय और व्यवहार का विरोध कैसे दूर हो?

धर्मी जीव भेदज्ञान द्वारा यह जानता है कि–देह, मन, वाणी मैं नहीं हूँ, न उनका कारण हूँ, न कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ, और उनकी जो क्रिया स्वयं होती हो, उसका अनुमोदक भी नहीं हूँ। शास्त्र में ऐसे स्पष्ट कथन आते हैं, वहाँ अज्ञानी जीव कहते हैं कि–'यह तो निश्चय की बात है; निश्चय से आत्मा, शरीरादि का नहीं कर सकता, किन्तु व्यवहार से करता है।' निश्चय क्या है और व्यवहार क्या है? उसका अज्ञानी को भान नहीं है–इससे वह ऐसा मानता है कि व्यवहार से आत्मा बोलता है और शरीर को चलाने की क्रिया करता है। 'निश्चय से नहीं करता और व्यवहार

से करता है'– ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिए उसके कभी दो नयों का विरोध दूर नहीं होता और उस विरोध को दूर करके उसे स्वभाव में ढ़लना नहीं रहता, अर्थात् उसके अधर्म दूर होकर धर्म नहीं होता। निश्चय और व्यवहार का परस्पर विरोध है, वह विरोध किस प्रकार दूर हो? निश्चय जो कहता है, वह वस्तु का स्वरूप है और जो व्यवहार कहता है, उस प्रकार वस्तु का स्वरूप नहीं है, लेकिन उपचार से कहा है – ऐसा समझे तो दो नयों का विरोध दूर हो जाये। परन्तु नयों के कथन की अपेक्षा समझे बिना दोनों को सच्चा मान ले कि – यह भी सच्चा और यह भी सच्चा – तो उसके दो नयों का विरोध दूर नहीं होता, अर्थात् मिथ्यात्व दूर नहीं होता। निश्चच कहता है कि आत्मा, शरीरादि का कुछ भी नहीं करता, – यह तो यथार्थ वस्तु-स्वरूप ही है, और व्यवहार कहता है कि आत्मा शरीरादि की क्रिया करता है – यह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं, किन्तु उपचार का कथन है, इसका अर्थ ऐसा है कि वास्तव में आत्मा, शरीरादि का नहीं करता।

(१५) चैतन्य -महिमा

देखो, इस तत्त्व को समझे बिना बाहर की धूमधाम से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। लोगों को बाह्य देखावा दिखलायी पड़ता है, परन्तु अन्तर में चैतन्यहीरा अनन्त गुणों का भण्डार, केवलज्ञान का कंद है, उसे नहीं देखते हैं। भगवान! तेरी महिमा अपार है, अपनी महिमा को भूलकर बाह्य पदार्थों की महिमा कर-करके तू अनादि से भ्रमण कर रहा है। अपने आत्मा की महिमा को जानकर उसकी श्रद्धा करे तो यह जन्म-मरण की आपत्ति दूर हो। भगवान की वाणी से भी तेरी महिमा का पार नहीं आ सकता। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि–

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो॥२०॥

अपने अन्तर में ज्ञान द्वारा अनुभवगोचर हो, वैसा आत्मा है, परन्तु वह अनुभव, वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता और वाणी द्वारा आत्मा नहीं समझा जा सकता। शास्त्र कहते हैं कि बारह अङ्गों द्वारा भी मात्र स्थूल तत्त्व की बातें आयी हैं। सूक्ष्मतत्त्व तो केवली भगवान और ज्ञानियों के अन्तर में रह गया है। भगवान की वाणी में से गणधर देवों ने जो कुछ झेला, उसका अनन्तवाँ भाग शास्त्रों में आया है और उसमें स्थूल कथन है, किन्हीं अन्य पदार्थों के साथ एकमेक करके चैतन्यमहिमा का पूरा वर्णन करके की शक्ति वाणी में नहीं है। जिस प्रकार घी का स्वाद लिया जा सकता है, परन्तु उसका पूरा वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता, उसी प्रकार चैतन्य

की परिपूर्ण स्वरूप ज्ञान में ज्ञात होता है, लेकिन वाणी में उसे पूर्ण कहने की शक्ति नहीं है; क्योंकि वाणी आत्मस्वभाव से अन्य है। जिस प्रकार कोई बड़ा बैरिस्टर घी का स्वाद ले और छोटा बच्चा घी का स्वाद ले, तो वहाँ दोनों को घी के स्वाद का ज्ञान एक-सा है, लेकिन वाणी द्वारा पूरा कोई नहीं कह सकता। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द आत्मस्वभाव का ज्ञान करने में केवली भगवान पूर्ण हैं–बैरिस्टर जैसे हैं, और अविरत सम्यग्दृष्टि को मतिश्रुतज्ञान है, वे बालक जैसे हैं, लेकिन दोनों के ज्ञान की जाति एक ही है–आत्मा के अनुभव का स्वाद दोनों को एक ही जाति का है, परन्तु वाणी द्वारा आत्मा का पूर्रा वर्णन करे में कोई समर्थ नहीं है।

(१६) ज्ञायकमूर्ति आत्मा, देह-मन-वाणी का प्रेरक नहीं है।

ज्ञायकमूर्ति आत्मा, देह-मन-वाणी का कर्त्ता तो नही हैं; लेकिन देह-मन-वाणी की जो क्रिया अपने आप होती हो, उसका प्रेरक भी आत्मा नहीं है। आत्मा बोलने की इच्छा करे, वह इच्छा विकार है, उस इच्छा के कारण भी भाषा नहीं होती। शरीर तो पुद्गल की आहारवर्गणा में से होता है। और भाषा, भाषवर्गणा में से होती है; इसलिए शरीर के अंग जो मुँह या गला हैं, उनसे भाषा नहीं बोली जाती, क्योंकि भाषा और शरीर-दोनों के पुद्गल भिन्न हैं। जहाँ मुँह भी भाषा नहीं बोलता, वहाँ आत्माा भाषा बनाता है–यह तो बात ही कहाँ रही? देह-मन-वाणी, आत्मा के साथ एकक्षेत्र में स्थित हैं, उन एकक्षेत्र में स्थित पुद्गलों का प्रेरक भी आत्मा नहीं है, तब फिर पुस्तक, पैसा, लक्ष्मी इत्यादि दूर के पदार्थों की क्रिया आत्मा कैसे कर सकता है? आत्मा तो ज्ञायकमूर्ति है, और वे सब पदार्थ ज्ञेय हैं। आत्मा का और उनका मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार समझे बिना धर्म का अन्य कोई मार्ग नहीं है। वीतराग का मार्ग यही है। पहले सत्समागम से ऐसा वस्तुस्वरूप सुनकर अन्तर में मनन और विचार करना ही व्यवहार है; इसके अतिरिक्त बाह्य की क्रिया में व्यवहार नहीं है। शरीर की क्रिया होती है, वह तो जड़ परमाणुओं को अवस्था है, आत्मा उसकी व्यवस्था नहीं करता। जड़ की अवस्था ही उसकी व्यवस्था है, उसके लिए उसे ज्ञान की आवश्यक्ता नहीं है। अज्ञानी जीव, परपदार्थ की व्यवस्था करने का अभिमान करता है, परन्तु परद्रव्य का कर्त्ता या प्रेरक तो वह भी नहीं है। जो अपने को पर का प्रेरक मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

(१७) अनेकान्त - धर्म

अज्ञानी कहते हैं कि यह एकान्त निश्चय है। परन्तु उन अज्ञानियों को निश्चय और व्यवहार का भान ही कहाँ है? अनेकान्त किसे कहते हैं और एकान्त किसे कहते हैं–उसकी भी उन्हें खबर नहीं है। आत्मा अपने ज्ञान की अवस्था करता है, परन्तु पर में कुछ नहीं करता–इसी का नाम

अनेकान्त है। और इसी प्रकार समझकर, परपदार्थों का अहंकार दूर करके, अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह धर्म है।

(१८) धर्म की अपूर्वता और उसकी रीति

धर्म अद्‌भुत, अलौकिक और जो अनन्तकाल में प्रगट नहीं हुई–ऐसी अपूर्ववस्तु है। वह धर्म कैसे होता है? और आत्मा के जन्म-मरण का अन्त किस प्रकार आता है? उसकी यह बात है। यह ज्ञेय अधिकार है, इसमें गर्भितरूप से सम्यक्त्व अधिकार भी आ जाता है। धर्मी जीव शरीरादि समस्त परज्ञेयों को अपने से भिन्न परद्रव्य जानकर उनके प्रति मध्यस्थ होकर स्वभावोन्मुख होते हैं–उनका यह वर्णन है। मैं ज्ञायक आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कर्ता नहीं हूँ, उनका करानेवाला नहीं हूँ और न उनके कर्त्ता का अनुमोदक हूँ; मैं तो उनका ज्ञाता ही हूँ और वे सब ज्ञेय हैं–इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक का भेदविज्ञान करके ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन और मुक्ति का कारण है। सम्यग्दर्शन समझने के लिए यह अधिकार अमूल्य और अलौकिक है।

भरतजी के साथ तत्त्व-चर्चा

(कुवाडवा ग्राम में चैत्र वदी १३ के दिन पूज्य स्वामीजी के भरतेश-वैभव के प्रवचन से)

श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र श्री भरतचक्रवर्ती एकबार उपवास करके बैठे हैं और रानियों के साथ तत्त्वचर्चा कर रहे हैं। वहाँ रानी प्रश्न करती हैं कि संसार में दुःख है और अविनाशी सिद्धपद में सुख है, उस सुख का क्या उपाय है? यह प्रश्न पूछते समय रानी को इतना भान है कि आत्मा के अतिरिक्त शरीरादि में कहीं भी सुख नहीं है; और ऐसा अविनाशी सुख प्राप्त करने की रुचि हुई है। इससे प्रेमपूर्वक प्रश्न करती हैं। यहाँ पति-पत्नी जैसा प्रेम नहीं, परन्तु प्रेम से तात्पर्य है, धर्मात्माओं का प्रेम।

भरतजी उत्तर देते हैं–आत्मा में से आवरणों का नाश करने से वह सुख प्रगट होता है। आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप जो भाव-आवरण है, उसका नाश करने से सिद्ध-सुख प्रगट होता है।

रानी फिर पूछती हैं कि –स्वामी! उस आवरण के नाश करने का उपाय क्या है? वह भी हमें बतलाइये।

भरतजी उत्तर देते हैं कि–परमात्मा की भक्ति से आवरण का क्षय होता है। परमात्मा की भक्ति दो प्रकार की होती है–एक भेदभक्ति और दूसरी अभेदभक्ति। उनमें अभेदभक्ति आवरण के नाश का मूल कारण है। राग-द्वेष रहित परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप परमात्मा का स्वरूप जानकर, उनकी भक्ति-बहुमान करना, वह भेदभक्ति है; और अपने आत्मा को परिपूर्ण निर्मल परमात्मस्वरूप से जानकर, उसी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीन होना, वह अभेदभक्ति है। अभेदभक्ति है, वह निश्चय भक्ति है, वह परमार्थभक्ति है, वह सच्ची भक्ति है, वह अपने आत्मा की भक्ति है।

पहले तो भेद भक्ति होती है; ऐसी भेद भक्ति को जानकर, पश्चात्–मैं ऐसा ही परमात्मा हूँ, आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति है–इस प्रकार अपने आत्मा को जानकर स्थिर हो, उसका नाम परमार्थभक्ति अथवा तो अभेदभक्ति है। अभेद आत्मा की ओर उन्मुख होने के लक्ष्यपूर्वक भेदभक्ति हो तो उसे व्यवहार कहा जाता है।

विकार और आवरणों नाश करने के लिए आत्मा में अभेद भक्तिपूर्वक आराधना की ही आवश्यकता; अभेदभक्ति में ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

देखो, पति-पत्नी के बीच ऐसी तत्त्वचर्चा चलती है। स्त्री हैं, तथापि तत्त्वचर्चा करती हैं। 'मैं स्त्री हूँ, इसलिए मेरी समझ में नहीं आयेगा'–ऐसी मान्यता नहीं है। पत्नी अपने पति से ऐसे धर्म–प्रश्न पूछती हैं। हम स्त्री नहीं हैं, किन्तु हम तो आत्मा हैं–ऐसा भान है।

फिर एक रानी पूछती हैं कि–स्वामी! परमात्मा की भेदभक्ति का तो हमें अभ्यास है, लेकिन अन्तर में परमात्मा को अभेदभक्ति में मन नहीं लगता। व्यवहार का तो अभ्यास है, परन्तु आत्मा ज्ञान-दर्शन का सागर है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान में चित्त लीन नहीं होता! तो अभेद आत्मा की भक्ति कैसे होती है? उसका उपाय बतलाइये।

भरतजी कहते हैं कि–जिस प्रकार तुम वीतरागी चैतन्यमूर्ति भगवान के प्रतिबिम्ब को सामने रखकर उसकी भक्ति करती हो, उसी प्रकार आत्मा का ही तनुवातवलय में विराजमान सिद्ध के समान चिन्तवन करोगी तो अभेद आत्मा की भक्ति में चित्त लगेगा। जैसे सिद्ध प्रभु वातवलय में विराजमान हैं, वैसा ही यह आत्मा इस समय शरीर में विराजमान हैं। भरत और उनकी रानियों को राग है, और गृहस्थाश्रम में हैं, परन्तु अन्तर में रटन तो यही है।

आत्मा की भक्ति से मुक्ति होती है, उस भक्ति का वर्णन चल रहा है। शरीर में विद्यमान होने पर भी आत्मा, शरीर से भिन्न है–ऐसा समझे तो शरीरादि पर में एकत्वबुद्धि छूटे और आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान हो–वह अभेदभक्ति है। भेदभक्ति का वर्णन संक्षिप्त कर दिया; अब अभेदभक्ति का वर्णन विशेष करते हैं। भेदभक्ति को तो जगत जानता है, परन्तु आत्मा की अभेदभक्ति को नहीं जानते। धर्म आत्मा से करना है, तो आत्मा कैसा है? वह जाने बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा ज्ञानमूर्ति, सिद्ध जैसा है, शरीर से पृथक् है, पुरुषाकार है। आत्मा का आकार अरूपी पुरुषाकार है; और चिन्मय है अर्थात् ज्ञानमय है– ऐसे आत्मा को जानकर उसमें स्थिर हो, वह अभेदभक्ति है। जिनबिम्ब की भक्ति, भेदभक्ति है, उमसें शुभराग है, और यदि उपरोक्त कथनानुसार आत्मा को जाने तो अन्तर में अपने ही आत्मा का परमात्मा के रूप में दर्शन होता है। संसार में गृहस्थाश्रम में भी आत्मादर्शन हो सकता है–इसका नाम अभेदभक्ति है।

भरत महाराज चक्रवर्ती हैं, ऋषभदेव भगवान के पुत्र हैं, इसी भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं, छह खण्ड के राज्य में रहने पर भी कभी-कभी अन्तर में आत्मा का अनुभव कर लेते हैं। वे भरतजी इस समय अपनी रानियों को आत्मा के अनुभव का उपाय समझा रहे हैं। आत्मा ज्ञानमय है, पर का कुछ करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, और राग-द्वेष करने का भी ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ऐसे स्वभाव को जाने तो अन्तर में आत्मा का दर्शन हो! देखो, स्त्री को भी आत्मदर्शन होता है।

एक मूर्ख जागीरदार ऐसा था कि–उससे किसी ने पूछा, 'जागीरदार साहब! आपकी रानियाँ कितनी हैं?' जागीरदार बोलाः–'कामदार से पूछो, मुझे खबर नहीं है।' उसी प्रकार अज्ञानी मूर्ख जीव कहता है कि आत्मा का स्वरूप कैसा है, उसकी हमें खबर नहीं है, शास्त्र से पूछो! यहाँ कहते हैं कि आत्मा, रागरहित ज्ञानमय है–ऐसा जानकर अन्तर में देखे तो आत्मा का अनुभव हो, और अपने अनुभव की स्वयं को खबर पड़े।

जिसप्रकार स्फटिक की शुद्ध प्रतिमा पर धूल चढ़ी होने पर भी वह स्पष्ट दिखायी देती है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्फटिक जैसा निर्मल है, ऊपर कर्मों की धूल होने पर भी वह दिखायी देता है। आत्मा ज्ञानस्वभावरूपी चैतन्य की प्रतिमा है, और कर्म तथा शरीर की धूल से वह पृथक् विद्यमान हैं–ऐसा जानकर, यदि अनुभव करे तो स्फटिक की प्रतिमा की भाँति आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा बाह्य-क्रिया तो कर ही नहीं सकता, परन्तु राग-द्वेष हो, वह करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पुरुषाकार ज्ञानमूर्ति आत्मा है, उसे पहचाने तो आत्मा की अभेदभक्ति होती है।

स्फटिक की प्रतिमा के चारों ओर धूल होने पर भी वह धूल स्फटिक में प्रविष्ट नहीं हो जाती; उसी प्रकार शरीर और कर्मोरूपी धूल के बीच में ज्ञानमूर्ति आत्मा रहने पर भी आत्मा में वे कोई भी प्रविष्ट नहीं हो गये हैं। यदि ऐसे आत्मा को जानकर अन्तर में उसे देखने का प्रयत्न करे तो दर्शन होते हैं। स्फटिक की प्रतिमा तो आँखों से दिखायी देती है, हाथ से स्पर्श किया जा सकता है—इस प्रकार वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होती है; परन्तु आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति, वह इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शनरूपी-चक्षुओं से वह जाना जाता है। शरीर और आत्मा को एक माने तो शरीर से भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होगा, और धर्म नहीं होगा। देखनेवाला तो आत्मा हैं, परन्तु यदि वह इन्द्रियों द्वारा देखे तो बाह्य जड़-पदार्थ दिखायी देते हैं—आत्मा ज्ञात नहीं होता। अन्तर में ज्ञानचक्षुओं से आत्मा को देखने का प्रयत्न करे, तो वह दिखायी देता है। और ऐसे आत्मा को देखना, उसका अनुभवन करना, अभेदभक्ति है। उसी के द्वारा आत्मा में से आवरण का क्षय होकर, सिद्धसुख प्राप्त होता है;—इस प्रकार महाराज भरत रानियों को समझा रहे हैं।

स्फटिक तो जड़ है; और चैतन्य-मूर्ति आत्मा उससे बिलकुल विलक्षण है; वह बाह्य आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होगा, उसे तो ज्ञानचक्षुओं से देखना पड़ेगा। निर्मल आकाश की भाँति आत्मा को ज्ञान की मूर्ति समझकर अन्तर में उसका ध्यान करो! सांसारिक मोह बहुत बुरा है; परपदार्था के मोह के कारण हो आत्मा, परमात्मा की अभेद भक्ति से भ्रष्ट हुआ है। इससे सर्वप्रथम परवस्तु के ममत्वरूप आशा के बंधन को तोड़ो! परवस्तु की तीव्र आसक्ति को छोड़कर, फिर एकान्तवास में जाकर अन्तर में चैतन्यमूर्ति आत्मा का ध्यान करो! ऐसा करने से अभेदभक्ति होगी और मुक्ति हेागी। इस प्रकार भरतजी ने अपनी रानियों को समझाया।

(चैत्रवदी १४, दूसरा दिन)

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती संसार में रहने पर भी धर्मात्मा थे; उनके ९६००० रानियाँ थीं। रानियाँ भरतजी से धार्मिक प्रश्न करती हैं और भरतजी उनका उत्तर देते हैं—उसका यह प्रकरण चल रहा है।

रानी ने प्रश्न किया कि—आत्मा का अनुभव किस प्रकार होता है? भरतजी उत्तर देते हैं कि—आत्मा, शरीर से भिन्न है, आत्मा को भूलकर पर-पदार्थों में ममत्व करके जो तीव्र लोभ करता है, वह बुरा है। उस लोभ को मन्द करके एकान्त में जाकर आत्मा का चिन्तवन करना चाहिए। पहले जगत का तीव्र ममत्व कम करके, सतसमागम से आत्मा का स्वरूप श्रवण करके, फिर एकान्त में जाकर अन्तर में उसके चिन्तवन का प्रयत्न करना चाहिए। अनन्तकाल से आत्मज्ञान

का प्रयत्न नहीं किया है, इससे एक ही दिन के प्रयत्न से आत्मा ज्ञात नहीं होता; उसके लिए बारम्बार अभ्यास करना चाहिए! बाह्य में पैसादि की प्राप्ति होने में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है, परन्तु आत्मा का स्वरूप क्या है, उसे जानने में आत्मा का पुरुषार्थ है। अभ्यास करते-करते क्रमानुसार आत्मा का अनुभव होता है।

पुनः रानी प्रश्न करती हैं कि आत्मानुभव के लिए कोई पुण्यादि कार्य बतलाइये न! क्या भगवान की भक्ति, दानादि शुभराग करते रहने से आत्मा का अनुभव नहीं होता? भरतजी उत्तर देते हैं कि–जिसप्रकार दर्पण पर चन्दन का लेप करो तो वह भी दर्पण के लिए आवरण का ही कारण है, उसी प्रकार आत्मा में शुभराग से भी आवरण होता है। पहले भेदभक्ति का शुभराग होता है, परन्तु उस शुभ और अशुभ-दोनों से रहित आत्मा का स्वरूप है।–उसे जानने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। भरतजी अपनी रानी से कहते हैं कि – हे सुखाकांक्षिणी! भेदभक्ति से पुण्य होता है और उससे स्वर्गादि पद की प्राप्ति होती है, परन्तु आत्मा का सुख उससे नहीं मिलता। रागरहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके उसके ध्यान में एकाग्र होना, वह अभेदभक्ति है, और वह अभेदभक्ति ही मोक्षसुख का कारण है। अभेदभक्ति ही मोक्ष सुख का और भेदभक्ति बन्ध का कारण है, यह बात भव्य-सज्जन पुरुष स्वीकार करते हैं, परन्तु जिसकी होनहार ठीक नहीं है, वह अभव्य जीव इस बात तो नहीं मानता।

अहो! यह देह तो क्षणिक है, नाशवान है और मैं अविनाशी हूँ, इसप्रकार आत्मा की पहचान और ध्यान की रुचि भव्यजीवों को ही होती है, अभव्य जीवों को आत्मध्यान की रुचि नहीं होती। संसार में रहनेवाले धर्मात्मा पति-पत्नी भी ऐसी तत्त्वचर्चा बार-बार करते हैं।

विद्यामणि नाम की रानी भरतजी से पूछती है कि–स्वामी! शरीर और राग से भिन्न आत्म-स्वभाव का ज्ञान-ध्यान करनेरूप अभेदभक्ति पुरुषों को ही हो सकती है या हम स्त्रियों को भी?

भरतजी उत्तर देते हैं–उस अभेदभक्ति के दो प्रकार हैं–(१) शुक्लध्यान, (२) धर्मध्यान। यद्यपि कहने में तो यह दोनों पृथक् मालूम होते हैं, परन्तु उन दोनों के अवलम्बनरूप आत्मा एक ही है, इससे वे एक ही प्रकार के हैं। आत्म-स्वभाव के भान द्वारा धर्मध्यान स्त्री के भी हो सकता है। स्त्री को शुक्लध्यान नहीं हो सकता। शुक्लध्यान, धर्मध्यान की अपेक्षा विशेष निर्मल है।

स्त्री-पुरुष दोनों का आत्मा तो एक ही प्रकार का है। बाह्य देह की भिन्नता से अन्तर के आत्मा में भिन्नता नहीं होती। ध्यान का अवलम्बन तो देह से भिन्न आत्मा है, शरीर के अवलम्बन से ध्यान नहीं होता। स्त्री को भी आत्मा के अवलम्बन से धर्मध्यान होता है। आत्मा, शरीर से पृथक् है, और अन्तर में जो पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, वह भी आत्मस्वरूप से भिन्न है।

सर्वजीवों को धर्म के लिए तो आत्मा का ही अवलम्बन है। ऐसे आत्मा का अवलम्बन करके ध्यान करे तो स्त्री को भी आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसको पहचान कर उसके ध्यान में एकाग्र होने से पर को भूल जाना—उसका नाम ध्यान है, और पर के विचार में एकाग्र होने से आनन्दमूर्ति आत्मा को भूल जाना, वह कुध्यान है। मैं शरीर से भिन्न हूँ, पुण्य और पाप के शुभाशुभवृत्तियाँ भी कृत्रिम हैं; वे नवीन-नवीन होती हैं और उनका ज्ञाता-दृष्टा मैं त्रिकाल ज्ञान-स्वरूप हूँ;—इस प्रकार आत्मा की महिमा में एकाग्र होने से परवस्तु के विचारों को भूल जाना, वह सुध्यान है। आत्मा को पहचानकर उसमें एकाग्र हो, उतनी शान्ति प्रगट होती है। सतसमागम से आत्मा की पहचान और ध्यान करने का सतत् प्रयत्न करे तो इस काल में भी आत्मा का ध्यान होता है।

आत्मा की प्रभुता

(श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका गाथा २ पर परमपूज्य स्वामीजी का प्रवचन)

आत्मा चिदानन्द ज्ञानस्वरूपी तत्त्व है, वह देह से पृथक् तत्त्व है; परन्तु अनादिकाल से एक क्षणमात्र भी आत्मा की सम्भाल नहीं की है। यह शरीर तो मिट्टी है, यह आत्मा नहीं है। आत्मा ज्ञाता है, वह शरीर को नहीं जानता है, और शरीर ज्ञात होता है, परन्तु शरीर में जानने का स्वभाव नहीं है। अन्तिम से अन्तिम रजकण है, वह परमाणु है, उसके दो भाग नहीं होते। ज्ञान से भी जिसके दो भाग नहीं हो सकते —ऐसा परमाणु है, वह अजीव है, उसे कुछ भी खबर नहीं पड़ती— ऐसे रजकणों का बना हुआ यह शरीर है। यह कुछ नहीं जानता है। ज्ञाता आत्मा, शरीर से पृथक् है। जीवों ने अनन्तकाल में एकक्षणमात्र भी उसे नहीं जाना।

आत्मा, शरीर से तो पृथक् है, और ज्ञान कहीं पर के विचारों में अटक जाने से जो पुण्य-पाप या राग-द्वेष होते हैं, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह तो क्षणिक-वृत्तियाँ हैं, उपाविभाव

हैं। जीव अनन्तकाल से वैसे भाव प्रतिक्षण उत्पन्न करता आ रहा है और उन भावों को ही अपना स्वरूप मानता है, इससे वह संसार में परिभ्रमण करता है।

यह शरीर ही आत्मा का नहीं है, तो फिर शरीर को पहचाननेवाले ऐसे स्त्री-पुत्रादि तो आत्मा के कहाँ से होंगे? वे सब तो कृत्रिम संयोगी हैं, और आत्मा तो नित्य सच्चिदानन्द सनातन स्वभावी है। वह तो सदैव है, है और है! जिसे कल्याण करना हो, उसे सत्समागम ढूँढ़कर ऐसे आत्मा को समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कोई क्रियाकाण्ड या कर्मकाण्ड कल्याण के उपाय नहीं हैं। धर्म का प्रारम्भ आत्मा का विश्वास करने से होता है। आत्मविश्वास के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

जिसप्रकार दौज उगे तो वह बढ़कर पूर्णिमा होती ही है; उसी प्रकार आत्मा का सच्चा ज्ञानरूपी चन्द्र जिसे प्रगट हुआ है, उसे पूर्ण परमात्मदशा होती ही है। अज्ञानी, शरीर की क्रिया के आश्रय से धर्म करना चाहते हैं; परन्तु शरीर ही आत्मा से पर है, उससे धर्म नहीं होता। जैसे-लैंडीपीपल की चरपराहट अन्दर भरी थी, वही प्रगट हुई है; ऊपर से वह चरपराहट दिखायी नहीं देती, परन्तु उसे जानकर घिसे तो वह प्रगट होती है। वह चरपराहट पत्थर में से नहीं आयी है, परन्तु लैंडीपीपल में ही थी, उसमें से वह प्रगट हुई है। उसीप्रकार आत्मा में वर्तमान दशा में अल्पज्ञान दिखलायी देता है, परन्तु अन्दर परिपूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य भरा हुआ है, उसके केवलज्ञान प्रगट होकर सर्वज्ञ होने का शक्ति है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र हो तो केवलज्ञान प्रगट होता है। प्रगट में अल्पज्ञान होने पर भी अन्तर में सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति भरी है, उसे पहचानकर उसमें स्थिर हो तो राग-द्वेष दूर हो जाये और अकेला आनन्द रह जाये, पूर्ण ज्ञान रह जाये—उसका नाम मुक्ति है। पहले ऐसे आत्मा की पहचान करना चाहिए।

जिस प्रकार मोरनी के छोटे से अण्डे में बड़ा मोर होने की शक्ति भरी हुई है; उसी प्रकार आत्मा में अल्पज्ञान होने पर भी उसमें सर्वज्ञ होने की शक्ति भरी हुई है। सर्वज्ञदेव कहते हैं कि—हे जीव! तू भी अपनी सर्वज्ञशक्ति से पूर्ण है; तेरी-मुक्ति हमारे पास नहीं है, हमने तुझे परिभ्रमण नहीं कराया है और न हम तुझे मुक्त ही कर सकते हैं। ऐसे अपने अन्तर स्वभाव का विश्वास करना ही धर्म का प्रारम्भ करने की रीति है। अनन्तकाल में आत्मा की प्रभुता को एक क्षणमात्र भी रुचिपूर्वक नहीं सुना। धर्म के प्रारम्भ कैसे होता है? वही लोग नहीं जानते। प्रभो! तूने अपने चैतन्य की प्रभुता को एक क्षणमात्र भी नहीं जाना है। पालने में झुलाते समय माता भी गाती है कि—'मेरा राजा-बेटा बहुत सियाना!' इस प्रकार जब तुझे सयाना बनाती है, तभी नींद आती है; पागल कहे तो तू नहीं सोता। पालने में भी तुझे सयाना अर्थात् ज्ञानवाला है—ऐसा सिखाया जाता है। उसी

प्रकार भगवान की वाणी में तेरे गीत गाये जाते हैं कि–भाई ! तू पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप, सयाना है, भाई ! एकबार शरीर का लक्ष्य छोड़ दें; पाप-पुण्य जितना ही तू नहीं है, तुझमें पूर्ण प्रभुता है; उसका विश्वास कर ! उसका विश्वास किए बिना पाप-पुण्य करके अनन्तबार स्वर्ग-नरक में गया है, पशु और मनुष्य भी हुआ। नरकगति नीचे है। जो शरीर, माँस, शराब तथा परस्त्री सेवनादि के घोर-पाप करते हैं, वे नरक में पहुँचते हैं। वहाँ महान दुःख हैं।

अनन्तकाल में इस चैतन्यतत्त्व को समझना दुर्लभ है। उसके लिए अन्तर में गम्भीर विचार होना चाहिए। अन्तरदृष्टि से एक क्षणमात्र भी आत्मा को नहीं जाना। आत्मा कैसा है ? उसका यह वर्णन हो रहा है।

आत्मा नित्य है और अनित्य भी है। आत्मद्रव्य नित्यस्थायी है। यह शरीर तो नश्वर है। शरीर में रोग होते हैं; उन्हें जीव मिटा नहीं सकता। 'यह रोग जल्दी मिट जाये'–ऐसी तीव्र इच्छा होने पर भी रोग नहीं मिटता; इसलिए ऐसा नियम हुआ कि आत्मा की इच्छा परवस्तु में काम नहीं करती; और वह इच्छा नयी-नयी होती है, इसलिए वह आत्मा का स्थायी स्वरूप नहीं है। देह-स्थिति पूरी होने पर उसे रखने में कोई समर्थ नहीं है; इसलिए देह से भिन्न और इच्छारहित आत्मा का स्वरूप है, वह नित्य-स्थायी रहकर प्रतिक्षण उसकी अवस्था बदलती रहती है–ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की पहचान ही धर्म का प्रारम्भ है। इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया से या पुण्य से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यह आत्मा स्थायी रहकर बदलता रहता है। आत्मा की विकारीदशा संसार है और आत्मा की निर्मलदशा, वह मोक्ष है। शरीर तो संयोगी है, वह तेरा स्वभाव नहीं है, और क्षणिक विकार भी तेरा स्वभाव नहीं है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव का वेदन हो, ऐसा तेरा स्वभाव है। आत्मा में अनित्य स्वभाव स्थायी है, विकारी पर्याय सदैव नहीं रहती, इसलिए वह वास्तव में आत्मा का अनित्य स्वभाव नहीं है, परन्तु प्रतिक्षण जो जानने की पर्याय होती रहती है, वही आत्मा का अनित्य स्वभाव है। नवीन-नवीन ज्ञानपर्यायें सदैव होती ही रहती हैं–ऐसा आत्मा का अनित्य स्वभाव है।

यह बात सुनकर अन्तर में इसका मंथन करना चाहिए। जिस प्रकार समुद्र ऊपर से सपाट दिखायी देता है, लेकिन भीतर बहुत ही गहरा है; किनारे पर खड़े रहकर उसकी गहराई का माप नहीं आ सकता। उसी प्रकार अनेक लोगों के कानों में आत्मा की बात पड़ती है, परन्तु अन्दर की जो गम्भीरता और गहराई है, उसे नहीं जानते। किनारे पर खड़ा रहकर देखे और क्षणिक राग-द्वेष जितना आत्मा को माने तो आत्मा की गहराई का माप नहीं आता; परन्तु अन्दर परमात्म-शक्ति है, उसे पहचान कर, उसका विश्वास करे तो आत्मा की महिमा समझ में आये। अल्पज्ञान है और राग-

द्वेष है, वह तो किनारा है; अन्दर तो परमात्मशक्ति भरी हुई है। शरीर मैं नहीं हूँ, अल्पज्ञ मैं नहीं हूँ, मेरे स्वभाव में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति भरी है, ऐसा अपनी प्रभुता का विश्वास ही परमात्मा होने की कला है। यह समझने के लिए अन्तर में लौ होना चाहिए कि अरे रे! मेरा क्या होगा! मैं कहाँ जाऊँगा? यह सब तो यहीं पर पड़ा रहेगा; लेकिन मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा? मुझे तो आत्मा समझना है; इस प्रकार अन्तरङ्ग लौ पूर्वक सत्समागम करे तो ऐसा आत्मा समझ में आये और जन्म-मरण का अन्त हो। यह आत्मा तो आबालवृद्ध सब ही को समझ में आ सकता है। किसान का आत्मा भी समझ सके ऐसी बात है। सभी आत्मा भगवान हैं, परन्तु स्वयं कौन है, उसकी खबर नहीं है, इससे परपदार्थों में अभिमान करके उनमें सुख की कल्पना कर रहा है।

शरीर से भिन्न स्वयं कैसा है—उसकी खबर नहीं है, इससे उसका अभिमान करता है और उसमें सुख मानता है। शरीर से भिन्न आत्मा को यदि यथार्थ जान ले तो शरीर का अभिमान दूर हो जाये और धर्म का प्रारम्भ हो।

उसी प्रकार स्वयं पापरहित कैसा है, नहीं जानता, इसे पाप-कार्यों में—विषयों में सुख मानता है और उसका अहंकार करता है। यदि पापरहित आत्मस्वभाव को पहचाने तो वह अभिमान दूर हो जाये। और स्वयं पुण्यरहित कैसा है, वह भी नहीं जानता, इससे पुण्य का अभिमान करके उसमें सुख मानता है, परन्तु आत्मा पुण्यरहित पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसे पहचाने तो पुण्य का अभिमान दूर हो जाये।

अपना पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसे नहीं जानता, इससे अल्पज्ञान का अभिमान करके अटक जाता है; यदि अपने पूर्ण ज्ञानस्वरूप को जाने तो अल्प का अभिमान दूर हो जाये। इस प्रकार पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ होता है। अपना पूर्ण स्वभाव है, उसके लक्ष्य से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

रात्रि के समय अपने लड़के को घर आने में देर हो जाये तो नींद नहीं आती और उठकर ढूँढ़ने जाता है; परन्तु आत्मा स्वयं प्रभु है, उसे भूल गया है, स्वयं खो गया है, उसे कभी ढूँढ़ने की दरकार नहीं करता। अपनी प्रभुता को भूलकर आराम से सो रहा है, परन्तु उसे समझने की चिन्ता नहीं करता। अपने आत्मा की प्रभुता को पहचान लेना—उसे धर्म कहते हैं।

आत्मा की शान्ति कहाँ है?

(श्री पद्मनन्दि -सद्बोधचन्द्रोदय गाथा ९ वीं पर परमपूज्य स्वामीजी का व्याख्यान)

जिसे आत्मा का धर्म प्रगट करना है, उसे वह कहाँ ढूँढ़ना चाहिए? धर्म का अर्थ है, आत्मा की शांति; वह कहाँ से प्रगट हो सकती है? शरीर की क्रिया में आत्मशांति प्रगट नहीं होती। देव-गुरु-शास्त्र के पास से आत्म-शांति नहीं मिलती; क्योंकि उन सबसे आत्मा भिन्न है। जिसप्रकार अँगुली है, वह लकड़ीरूप नहीं है; उसी प्रकार आत्मा अपने स्वरूप से है और पर से भिन्न है; परवस्तु की आत्मा में नास्ति है; इसलिए उसमें से तो आत्मा की शांति प्रगट नहीं होती। पर के लक्ष्य से अपने में जो शुभाशुभ वृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी शांति नहीं है। आत्मा का अपना स्वभाव दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है, उस स्वभाव में शांति है। उस स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर हो तो शांति प्रगट होती है। इसके अतिरिक्त कहीं बाहर से शांति नहीं आती। पैसा खर्च करने से अथवा भगवान की भक्ति से शांति नहीं मिलती। पर की सहायता से जो शांति मानना है, वह अपने को भूलकर बाह्य में शांति ढूँढ़ता है। जिस प्रकार चकमक में अग्नि प्रगट होने की शक्ति है, अण्डे में मोर होने की शक्ति है; उसी प्रकार आत्मा में परिपूर्ण शांति प्रगट करके परमात्मा होने की शक्ति है। इसके बिना बाह्य में कोई शांति ढूँढ़े तो वह अज्ञानी है। जैसे कोई पुरुष अपनी मुट्ठी में लिए हुए सोने को भूलकर उसे इधर-उधर ढूँढ़ता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने में परमात्मा होने की और ज्ञान-दर्शन की परिपूर्ण शक्ति है, उसे भूलकर बाह्य में ढूँढ़ता है; परन्तु आत्मा के ज्ञान-दर्शन कहीं बाहर से नहीं आते। आत्मा में जो पुण्य-पाप विकार होते हैं, उन्हें अपना मानना ही संसार है और उन विकारों से रहित ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभाव है, उसका विश्वास करना मुक्ति का उपाय है।

आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण है और पर से भिन्न है। यदि आत्मा परस्वरूप भी हो तो वह पर के साथ एकमेक हो जाये; और जिसप्रकार पर से आत्मा नहीं है, उसी प्रकार यदि अपने स्वभाव से भी न हो तो आत्मा का अभाव हो जाये। इसलिए ऐसा स्याद्वाद है कि आत्मा अपने स्वभाव से है और पर के स्वभाव से नहीं है। ऐसा आत्म-स्वभाव समझे बिना धर्म नहीं होता। लक्ष्मी का व्यय करे तो उससे कहीं धर्म तो होता नहीं है, परन्तु लक्ष्मी का व्यय करने से पुण्य भी नहीं होता और पाप भी नहीं होता। लक्ष्मी के प्रति ममत्व कम करके शुभभाव करे तो पुण्य है, और लक्ष्मी का व्यय करने में यदि मानभाव हो तो वह पाप है। लक्ष्मी का व्यय करने से

यदि धर्म होता हो तो निर्धन मनुष्यों को धर्म ही नहीं हो सकता। आत्मा में तो लक्ष्मी का अभाव है, इससे लक्ष्मी से आत्मा में कुछ भी नहीं होता।

भाई ! तुझे आत्मा की शांति ढूँढ़ना है या नहीं? आत्मा की शांति तुझमें ही भरी है। जिस प्रकार कस्तूरीवाले मृग की नाभि में कस्तूरी भरी हुई है, परन्तु अज्ञानता से बाहर दौड़ता है; उसी प्रकार आत्मा की शांति अपने में भरी हुई है, लेकिन विश्वास नहीं जमता, इससे बाहर दौड़ता फिरता है। चैतन्यतत्त्व त्रिकाली है, उसकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती है; पहले अल्पज्ञान हो और फिर अधिक ज्ञान का विकास होता है, तो वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया? यदि अन्तर में परिपूर्ण शक्ति न भरी हो तो अधिक ज्ञान प्रगट नहीं हो सकता। अन्तर में जो परिपूर्ण ज्ञानशक्ति भरी हुई है, उसमें से ज्ञान प्रगट होता है – बाह्य में से नहीं आता।

कसाई गायें काटता है और उसमें उसे पैसा मिलता है, वहाँ उसे गायें काटने के फल में पैसा नहीं मिला है, परन्तु पूर्व के प्रारब्ध के फल में मिला है। पूर्व में अज्ञानभाव में कुछ मन्द कषाय की होगी, उसके फल में पैसा मिला है; वर्तमान में पापभाव है, उसके फल में पैसा नहीं मिला है, उसके फल में तो नरक मिलेगा। डॉक्टरी, वकालत आदि में ज्ञान का जो विकास दिखायी देता है, वह वर्तमान बुद्धिमानी का फल नहीं है, परन्तु पूर्व की मन्द कषाय से वह ज्ञान का विकास दिखायी देता है। वर्तमान में मेंढ़क काटने या पैसा कमाने का भाव है, वह तो पाप है, उससे वर्तमान कला विकसित नहीं होती। पूर्व के प्रारब्ध में प्राप्त हुए पैसे में आत्म-शांति नहीं है; वर्तमान परलक्ष्य से जो शुभ या अशुभ वृत्ति होती है, उसमें भी आत्मशांति नहीं है; परन्तु अन्तर में ज्ञान और शांतिस्वभाव से भरा हुआ त्रिकालतत्त्व है, उससें से शांति आती है।

जैसे –गरम पानी गरम हुआ, उस समय भी उसका शीतलस्वभाव है, पानी का शीतलस्वभाव इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता, आँखों से दिखाई नहीं देता, भीतर गहराई तक हाथ डाले तो मालूम नहीं होता; लेकिन ज्ञान में ऐसा निर्णय करे कि यह पदार्थ पानी है, अग्नि नहीं है; पानी का स्वभाव ठण्डा होता है,–इस प्रकार पदार्थ के स्वभाव को ज्ञान से ही निश्चित किया जा सकता है, इन्द्रियों से निश्चित नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात होने योग्य है; कहीं इन्द्रियों से, राग से, देह की क्रिया से, भगवान को भक्ति से अथवा मन के तर्क से वह ज्ञात नहीं हो सकता; लेकिन ज्ञानद्वारा ही ज्ञात होता है। जैसे कोई मूढ़बुद्धि पुरुष हाथ में रखे हुए सोने को भूलकर बाहर इधर-उधर ढूँढ़ता है, उसी प्रकार अन्तर के स्वभाव को भूलकर जगत बाह्य में ज्ञान-दर्शन-चारित्र को ढूँढ़ता है–वह मूढ़बुद्धि है। सत्समागम से श्रवण करके अन्तर में ढूँढ़ तो मिल सकता है, मात्र श्रद्धा का अभिप्राय बदलना है। यदि मुट्ठी में रखा हुआ सोना बाहर ढूँढ़ने से

मिलता हो तो अन्तर का चैतन्यस्वभाव बाह्य अवलम्बन से प्रगट हो! एकक्षण भी यदि स्वावलम्बी चैतन्यतत्त्व को माने तो सद्बोधचन्द्र की जो किरण प्रगट हुई है, उसमें से केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा। पहले पुण्य-पापरहित शुद्धतत्त्व का भान और विश्वास होता है, परन्तु ऐसा भान होते ही सब पुण्य-पाप दूर नहीं हो जाते। शुद्ध स्वभाव का भान होने पर भी क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, परन्तु अन्तरङ्ग का विवेक दूर नहीं होता। जिस प्रकार, किसी को यह भान होने पर भी कि भाषा किस प्रकार बोलना चाहिए, गूँगापन चालू रहता है, परन्तु गूँगापन होने पर भी उसे भाषा बोलने का जो ज्ञान है, वह कहीं चला नहीं जाता। उसी प्रकार ज्ञानी को भेद-विज्ञान होने के पश्चात् पुण्य-पाप और विषय-कषाय के भाव होने पर भी अन्तर का भेदज्ञान दूर नहीं हो जाता। यदि अन्तर में खोज करे तो वहाँ चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति हो सकती है; बाह्य में ढूँढ़ने से चैतन्यतत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तरङ्ग रुचि पलटने से उसकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहेगी, मात्र रुचि के फेर से चैतन्य को भूला है। उस रुचि को ही बदल देना उपाय है। रुचि को स्वयं बदले तब वह बदलती है– इसके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अन्तर में आत्मा को ढूँढ़ो, उसका विश्वास करो, रुचि करो, तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द प्रगट होंगे। उसी में आत्मा की शांति है, उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी आत्मा की शांति नहीं है।

अरिहन्त देव की दिव्यध्वनि का सार

(वीछिया ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय फाल्गुन शुक्ला ६ के दिन दोपहर को केवलज्ञान कल्याणक प्रसंग पर भावान की दिव्यध्वनि के साररूप परमपूज्य स्वामीजी का प्रवचन)

(१) सर्वज्ञदेव की दिव्यवाणी अभेद -एकाक्षरी क्यों?

आज प्रातःकाल दीक्षा कल्याणक हुआ था और इस समय भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव हुआ है। भगवान के आत्मा को सर्वज्ञ पद प्रगट हुआ और समवशरण में उनकी 'ॐ' –ऐसी अभेद निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरी। सामान्य जीवों की भाषा में क्रम और भेद पड़ता है, वैसा भगवान की वाणी में नहीं होता। भगवान की वाणी अभेद, एकसमय में पूर्ण रहस्य प्रगट करनेवाली होती है। उसमें सूक्ष्म न्याय विद्यमान रहते हैं।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी जब तक राग और विकल्प वर्त रहा है, तब तक वाणी में अभेद–एकाक्षरीपना सहज नहीं आता। जहाँ चैतन्य में भेद करनेवाले उपाधिभाव हैं, वहाँ वाणी भी भेदवाली आती है। अभेद चैतन्य की स्थिरता द्वारा चैतन्य में भेद पाड़नेवाले उपाधिभावों का नाश होने पर अखण्ड केवलज्ञानदशा द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात हुआ, और उस समय वाणी भी सहजरूप से अभेद हो गई।

श्री अरिहन्त भगवान के 'ॐ' –ऐसी एकाक्षरी वाणी क्यों निकली? उसकी यह बात चल रही है; यह अन्तर की बात है। अभेदरूप चैतन्यस्वभाव केवलज्ञान से अनुभव में आये, उस समय वाणी भी अभेद निकलती है। ज्ञान में से जानने का क्रम दूर हो गया, वहाँ वाणी में भी कथन का क्रम दूर हो गया। वहाँ कहीं ज्ञान के कारण वैसी वाणी नहीं निकलती है, और जड़ वाणी को कुछ खबर नहीं है कि भगवान को केवलज्ञान हुआ, इसलिए मैं अभेदरूप से परिणमित होऊँ; तथापि ज्ञान का और वाणी का ऐसा ही सम्बन्ध है कि ज्ञान पूर्ण हो, वहाँ वाणी भी अभेद हो जाती है।

जीव को केवलज्ञान हुआ हो और वाणी भेदयुक्त हो–ऐसा कभी नहीं हो सकता। भगवान की दिव्यध्वनि निरक्षरी होने पर भी सुननेवाले जीवों को तो वह साक्षरीरूप से सुनाई देती है, और सब अपनी-अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। भगवान का शरीर स्तब्ध-स्थिर होता है, ओठ और मुँह बन्द होते हैं और 'ॐ'–ऐसी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है। वह एकाक्षरी होनेपर भी श्रोताजनों की पात्रतानुसार साक्षरीरूप से समझ में आती है–ऐसा उसका स्वभाव है।

(२) भगवान की वाणी धर्मवृद्धि का निमित्त है; जो स्वाश्रय करे, वही भगवान की वाणी को समझा है।

दिव्यध्वनि छूटे–ऐसे परमाणु सम्यग्दर्शन की भूमिका में ही बंधते हैं, और वे केवलज्ञान की भूमिका में छूटते हैं। पहले पूर्वभवों में भगवान की–'मैं परिपूर्ण अखण्डानन्द चैतन्य परमात्मा हूँ, राग का एक अंश भी मेरा नहीं है'–ऐसा अपूर्व आत्मभान तो था, परन्तु अभी अस्थिरता थी। पूर्व में तीसरे भव में दर्शनविशुद्धिपूर्वक ऐसा विकल्प हुआ कि अहो! मैं परिपूर्ण होऊँ, और निमित्त से कहा जाए तो 'जगत के जीव आत्मा को समझकर इस धर्म को प्राप्त करें'–ऐसा धर्मवृद्धि का विकल्प उठा; उसके निमित्त से तीर्थङ्कर नामकर्म के जड़ रजकण बँधे, फिर जब वह विकल्प टूटकर अभेद स्वभाव प्रगट हुआ, तब 'ॐ'–ऐसी अभेदवाणी धर्मसभा में छूटी। पूर्व में भगवान को धर्मवृद्धि के विकल्प से बँधी हुई वह वाणी, जगत के जीवों को धर्मवृद्धि का ही कारण है। भगवान की उस वाणी को कौन समझा कहलाता है? भगवान स्वयं आत्मा के अभेद स्वभाव की दृष्टि और स्थिरता करके भगवान हुए हैं और उपदेश में भी अभेद आत्मस्वभाव की दृष्टि और स्थिरता करना ही भगवान बतलाते हैं। भगवान की वाणी परिपूर्ण रागरहितपना को बतलाती है; राग का एक अंश भी आदरणीय नहीं है–ऐसा जो समझे वह जीव भगवान की वाणी को समझा है। जो कोई जीव गिर जाने की या पुरुषार्थ की शिथिलता की बात निकाले, अथवा तो राग से धर्म या निमित्तादि पर का आश्रय माने, वह जीव भगवान की वाणी को नहीं समझा है। भगवान की वाणी में परिपूर्ण स्वाश्रय का ही उपदेश है।

प्रथम दृष्टि से स्वाश्रय होता है और फिर स्थिरता से स्वाश्रय होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों स्वाश्रय से हैं, स्वाश्रय को ही भगवान ने मोक्षमार्ग कहा है और पराश्रय को बंधमार्ग कहा है। ऐसा समझकर जो जीव अपने आत्मा में स्वाश्रय प्रगट करता है, वही वास्तव में भगवान के उपदेश को समझा है और उसी को भगवान की वाणी निमित्त कहलाती है। समझनेवाला जीव समझता तो अपनी पात्रता से ही है, कहीं भगवान की वाणी उसे नहीं समझा देती; परन्तु निमित्तरूप से भगवान की वाणी कैसी है–उसकी यह बात है। जैसा भगवान की वाणी का आशय है, वैसा ही जीव समझे, तभी उपादान-निमित्त का मेल होता है। भगवान की अभेद वाणी केवलज्ञान की झंकार साथ लेकर आती है, वह जीवों को धर्म में आगे बढ़ने का ही निमित्त है। पूर्व में पूर्णता के विकल्प से बँधी हुई वह वाणी, श्रोताओं को परिपूर्णता की ओर ले जाने में ही निमित्त है। भगवान का सम्यग्दर्शन उस भव में अप्रतिहत होता है, और अप्रतिहत स्वरूपस्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करते हैं; इन्द्र आकर दिव्य समवशरण की रचना करते हैं, बारह सभाएँ लगती हैं और पूर्व में पूर्णता के–

धर्मवृद्धि के विकल्प से बंधी हुई दिव्यध्वनि सहजतया छूटती है। वह वाणी क्या कहती है?

(३) भगवान की वाणी कहती है कि –

हे जीवों! अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव को पहचानकर उसमें स्थिर होओ! आत्मा के आनन्द में झूलो! अभेद स्वभाव में स्थिर होओ! तुम अपने आत्मा में पूर्ण स्वतन्त्र हो, कर्म इत्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को रोकते नहीं हैं, आत्मा को समझकर ठहरने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो गया है। जिस जीव ने वास्तव में अपने उपादान में स्वभाव के ओर की दृष्टि और स्थिरता की वृद्धि को स्वीकार किया है, उसी ने निमित्तरूप से हमारी वाणी को स्वीकार किया है। स्वभाव की वृद्धि को स्वीकार किया–वह उसका उपादान है और वाणी उसकी निमित्त है–ऐसा उपादान-निमित्त का मेल है;– ऐसा भगवान के उपदेश का रहस्य है।

पूर्व में जब भगवान की वाणी के रजकण बँधे, तब निमित्तरूप से 'मैं पूर्ण होऊँ, च्युत न होऊँ,–ऐसा विकल्प था, परन्तु च्युत हो जाने का विकल्प नहीं था। वह धर्मवृद्धि के भाव से बँधी हुई वाणी, जगत के जीवों को भी पूर्णता की ओर ले जाने में ही निमित्त है। आत्मा का पूर्ण स्वभाव समझकर उसका आश्रय करना ही भगवान की वाणी बतलाती है, और इस प्रकार स्वभावोन्मुख होने में ही भगवान की वाणी का निमित्तपना है। 'तू अभी नहीं समझ सकेगा, तेरे कर्म बलवान हैं, इसलिए तुझसे पुरुषार्थ नहीं होगा'–ऐसा कहनेवाली भगवान की वाणी नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करके स्थिर हो –ऐसा ही इस दिव्यवाणी का निमित्तपना है। इसके अतिरिक्त उल्टा समझे, वह जीव भगवान की वाणी की, संतों के हृदय को अथवा बारह अङ्ग के रहस्य को नहीं समझा है। वास्तव में उसने भगवान की वाणी सुनी ही नहीं है। भगवान की वाणी में क्या आया? भगवान की वाणी में ऐसा आया कि–इस जगत में छह द्रव्य हैं; जीव, पुद्गल, धर्मास्किाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल–यह छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्गल जीव से अनन्तगुने हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, कालद्रव्य असंख्यात हैं और आकाशद्रव्य सर्वव्यापक एक है। उनमें जीव द्रव्य ज्ञानसहित चेतन है और अन्य पाँच द्रव्य ज्ञानरहित जड़ हैं। यह चेतन और जड़ समस्त द्रव्य अपने स्वभाव से परिपूर्ण और स्वाधीन हैं; प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनन्तगुण हैं और एक-एक समय में उस प्रत्येक द्रव्य में नवीन-नवीन अवस्था होती रहती है; कोई अन्य उसका कर्त्ता नहीं है। आत्मा की अवस्था भी प्रतिसमय स्वतन्त्ररूप से होती है, उस अवस्था द्वारा पर से भिन्न आत्मा को समझकर और अपने में क्षणिक अवस्था की दृष्टि छोड़कर त्रिकाली परिपूर्ण स्वभाव की दृष्टि करने में स्वयं स्वाधीन है। ऐसा रहस्य भगवान की वाणी में आया है। (अपूर्ण)

चैतन्य के लक्ष्य से रहित सब मिथ्या है।

आजकल लोगों में जैनधर्म के नाम से जो बात चल रही है, उसमें मूल से ही फेर है। मूल आत्मस्वभाव की दृष्टि के बिना शास्त्रादि से हजारों बातें जान ले, परन्तु उनमें एक भी सत्य नहीं होती। पूर्व की मानी हुई सब बातों पर शून्य रखकर सुने तो यह बात अन्तर में जम सकती है। जैसे-कुम्हार एक साथ मिट्टी लाकर उसमें से हजारों बर्तन बनाता है, परन्तु यदि उस मिट्टी में चूने का भाग हो तो जब वह बर्तनों को भट्टी में डाले (अग्नि में पकाये), तब एक भी बर्तन साबुत नहीं रहता। सारी भट्टी निकालकर फिर से नयी मिट्टी लाकर बर्तन बनाना पड़ते हैं।

उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व के लक्ष्य बिना जो कुछ भी किया, वह सब सत्य से विपरीत होता है; सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर चढ़ाने में उसकी एक भी बात खरी नहीं निकलती। इसलिए जिसे आत्मा में अपूर्व धर्म करना हो, उसे अपनी मानी हुई पूर्व की सभी बातें अक्षरशः मिथ्या थीं – ऐसा समझकर, ज्ञान का झुकाव बिलकुल बदल देना पड़ता है। परन्तु यदि अपनी -पूर्व की बात को बनाये रखे और पूर्व की मानी हुई बातों के साथ इस बात के मिलाने जाये, तो पूर्व की जो गुत्थी चली आ रही है, वह नहीं सुलझेगी और यह नवीन अपूर्व सत्य उसकी समझ में नहीं आयेगा।

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

1- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

2- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र